श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत महापुराण में अध्यात्म

डॉ. नरेन्द्र अवस्थी, अध्यक्षचर, संस्कृतविभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

'**विद्यावतां भागवते परीक्षा**' विद्यावानों की परीक्षा भागवत में होती है। विद्या के जानकार की विद्याविषयक जानकारी कितनी है इसका निर्धारण उसके भागवत पुराण विषयक ज्ञान से होती है। कोई कहता है कि व्याकरण की गूढ़ गुत्थियां जो भागवत में हैं उनको सुलझाने की दक्षता तो किसी भक्ति, ज्ञान अथवा वैराग्य विषयक ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति में ही हो सकती है।

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार विद्या तो अध्यात्म विद्या ही है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'।[१]

श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म शब्द निम्न स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है–

अध्यात्मचेतसा[२], अध्यात्मम्[३], अध्यात्मम्[४], अध्यात्मम्[५], अध्यात्मविद्या[६], अध्यात्म–संज्ञितम्[७], अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्[८], अध्यात्मनित्या:[९]।

१. **अध्यात्मचेतसा–** ''विवेकबुद्ध्या अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत् करोमि इति अनया बुद्ध्या।''[१०]

इस स्थल पर शंकराचार्यजी 'अध्यात्मचेतसा' का अर्थ 'विवेकबुद्धि' से करते हैं। यहाँ पर सेवक की तरह ईश्वर के लिये कर्म करने की बुद्धि रखना ही विवेक है– अध्यात्म है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १०/३२
२. श्रीमद्भगवद्गीता, ३/३०–''मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।''
३. श्रीमद्भगवद्गीता, ७/२९–''ते ब्रह्म तद्विदु: कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।''
४. श्रीमद्भगवद्गीता, ८/१–''किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।''
५. श्रीमद्भगवद्गीता, ८/३–''अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।''
६. श्रीमद्भगवद्गीता, १०/३२–''अध्यात्मविद्या विद्यानां वाद: प्रवदतामहम्।''
७. श्रीमद्भगवद्गीता, ११/१–''मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।''
८. श्रीमद्भगवद्गीता, १३/११–''अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।''
९. श्रीमद्भगवद्गीता, १५/५–''निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:।''
१०. श्रीमद्भगवद्गीता, ३/३० पर शाङ्करभाष्य

२. **अध्यात्मम्–** 'अध्यात्मम्' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता में तीन स्थानों पर हुआ है।

सर्वप्रथम सातवें अध्याय के २९वें श्लोक में आये हुए 'अध्यात्मम्' शब्द का अर्थ करते हुए भाष्यकार शंकर कहते हैं–'अध्यात्मम् प्रत्यगात्मविषयं वस्तु' अर्थात् अन्तरात्मविषयक वस्तु।

आठवें अध्याय के प्रारम्भ में, सातवें अध्याय के अन्त में जो प्रश्नों के बीज भगवान् ने डाल दिये थे उसी की प्रेरणा से अर्जुन प्रश्न करता है –

'किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मम्'

इस प्रश्न पर तो आचार्य शंकर का कोई भाष्य नहीं है किन्तु अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में जो भगवान् ने कहा कि

'स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते'

इस पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं–

''तस्य एव परस्य ब्रह्मण: प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभाव: स्वभाव:। स्वभाव: अध्यात्मम् उच्यते। आत्मानं देहम् अधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभाव: अध्यात्मम् उच्यते अध्यात्मशब्देन अभिधीयते।।''[११]

अर्थात् उस परब्रह्म का जो प्रत्येक शरीर में अन्तरात्मभाव है उसका नाम स्वभाव है, वह स्वभाव ही 'अध्यात्म' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि आत्मा अर्थात् शरीर को आश्रय बनाकर जो अन्तरात्मभाव से उसमें रहने वाला जीवात्मा है और परिणाम में जो परमार्थ ब्रह्म ही है वही तत्त्व स्वभाव है उसे ही अध्यात्म कहते हैं।

३. अध्यात्मविद्या– 'अध्यात्मविद्या विद्यानां' भगवान् के इस वाक्य के भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि मोक्ष प्रदायिनी विद्या होने के कारण अध्यात्मविद्या को अपना स्वरूप बतलाया है।

४. अध्यात्मसंज्ञितम्– ग्यारहवें अध्याय के प्रारम्भिक श्लोक में अर्जुन के 'अध्यात्मसंज्ञितम् वच:' इस कथन को स्पष्ट करते हुए श्री शंकराचार्य जी कहते हैं–'अध्यात्मसंज्ञितम् आत्मानात्मविवेकविषयं यत्

११. श्रीमद्भगवद्गीता, ८/३ पर शांकरभाष्य

त्वया उक्तं वचो वाक्यम्'। यहाँ अध्यात्म नामक वाक्य से तात्पर्य है आत्मा-अनात्मा के विवेचन विषयक वाक्य। ऐसे वाक्यों से अर्जुन कहता है मेरा मोह नष्ट हो गया है।

५. अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्- १३वें अध्याय में ज्ञान के साधन होने के कारण ज्ञानशब्दवाच्य[१२] अमानित्वादि गुणों की शृंखला में 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' को भी भगवान् ने ज्ञान का साधन माना है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं-'आत्मादिविषयं ज्ञानम् अध्यात्मज्ञानं तस्मिन् नित्यभावो नित्यत्वम्'।[१३] अर्थात् आत्मादि विषयक ज्ञान का नाम अध्यात्म ज्ञान है, उसमें नित्यस्थिति। यहाँ आदि शब्द से परमात्मा, परब्रह्म, जीवब्रह्मैक्य, आत्मा-अनात्मविवेक को लिया जा सकता है।

६. अध्यात्मनित्या:- पन्द्रहवें अध्याय के पांचवें श्लोक में 'अध्यात्मनित्या:' पद आया है। वहाँ पर आचार्य शंकर कहते हैं-'अध्यात्मनित्या: परमात्मस्वरूपालोचननित्या:''[१४] अर्थात् वे लोग परम पद को प्राप्त करते हैं जो हमेशा परमात्मा के स्वरूप की आलोचना में तत्पर हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त अध्यात्म शब्द के श्रीशंकराचार्य के निर्वचन से यह प्रतीत होता है कि अध्यात्म को शरीर, मन एवं बुद्धि तीनों स्तरों पर प्रयुक्त करते हुए उसके आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक स्वरूप को समझा जा सकता है –

१. आधिभौतिक स्तर पर सेवक की तरह ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म अध्यात्म है।

२. आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं प्रत्यगात्मा तथा साथ ही आत्मानात्मविवेक अथवा परमात्मस्वरूपालोचन अध्यात्म है।

३. आधिदैविक स्तर पर 'अध्यात्मविद्या विद्यानां' कहकर भगवान् ने स्वयं को अध्यात्म कहा है।

---

१२. श्रीमद्भगवद्गीता, १३/६ पर शांकरभाष्य-''अमानित्वादिगुणं ज्ञानसाधनत्वाद् ज्ञानशब्दवाच्यम्।''

१३. श्रीमद्भगवद्गीता, १३/११ पर शांकरभाष्य

१४. श्रीमद्भगवद्गीता, १५/५ पर शांकरभाष्य

श्रीमद्भागवत का केन्द्र बिन्दु : अध्यात्म

चतु:श्लोकी भागवत[१५]

श्रीभगवान् ने बन्धन की निवृत्ति के लिये सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान सूक्ष्म रीति से ब्रह्माजी को बतलाया जो 'चतु:श्लोकी भागवत' के नाम से द्वितीय स्कन्ध के ९वें अध्याय के तैतीसवें श्लोक से लेकर छत्तीसवें श्लोक तक चार श्लोकों से प्रसिद्ध है।

भगवान् ने कहा –

अहमेवाऽऽसमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।३३।।

सृष्टि के पहले मैं ही था। स्थूल, सूक्ष्म और इन दोनों का कारण प्रधान, प्रकृति या कोई अन्य पदार्थ नहीं था – सब कुछ मुझ में ही लीन था; सृष्टि के अन्तर मैं ही यह दृश्यमान जगत् रूप हो जाता हूँ। (इससे यह सिद्ध हुआ कि अनादि, अनन्त और अद्वितीय होने से भगवान् परिपूर्ण हैं)।।३३।।

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तम:।।३४।।

वास्तव में वस्तु के बिना भी जिससे आत्मा में (अधिष्ठान में) किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है – जैसे आकाश में एक ही चन्द्रमा के होने पर भी नेत्र के दोष से दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं एवं जिससे सत् वस्तु की प्रतीति नहीं होती है – जैसे राहु के विद्यमान रहते हुए भी वह नक्षत्र-मण्डल में नहीं दीखता, उसी को मेरी माया जानो।।३४।।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।३५।।

जैसे पंचमहाभूत देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध शरीरों में सृष्टि के पश्चात् प्रविष्ट हुए हैं, क्योंकि उनमें वे दिखाई देते हैं, और नहीं भी प्रविष्ट हुए हैं, क्योंकि पहले से ही कारण रूप से उनमें विद्यमान हैं या पृथक् विद्यमान हैं, वैसे ही भूत, भौतिक देहों में मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ, अर्थात् भूत, भौतिकों में प्रविष्ट हुआ भी मैं (शुद्ध सत्त्व रूप) अपने स्वरूप में विद्यमान होने से अप्रविष्ट भी हूँ। महाभूत जड हैं, अतएव भूतों में उनका प्रवेश आसक्ति रहित है और मैं चेतन होता हुआ भी प्रवेश, नियन्त्रण, पालन आदि कार्यों को आसक्ति से शून्य होकर करता हूँ। मायिक जीवों में मेरी ऐसी आसक्तिशून्य क्रीड़ा है। मैं उनके गुण-दोषों से लिप्त नहीं होता हूँ।।३५।।

१५. श्रीमद्भागवत, २.९.३३-३६

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा।।३६।।

(अब साधन कहते हैं–) आत्म तत्त्व के जिज्ञासु को यही विचार करना चाहिए कि जो कार्यों में कारण रूप से विद्यमान है (यह अन्वय है); और कारण अवस्था में उनसे पृथक् रहता है (यह व्यतिरेक है) एवं जाग्रत् आदि अवस्था में उस-उस अवस्था के साक्षी होने से अन्वित है और समाधि में व्यतिरिक्त है – इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से जो सब जगह सदा रहे, वही आत्मा है।

किसी भी ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय के लिए यह न्याय है –

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।।

प्रथम लिंग 'उपक्रमोपसंहार है'। सर्वथा सारे भागवत में अध्यात्म विद्या ही सिद्ध है। प्रासंगिक विषय उसके ही पोषक हैं। जिनमें से कुछ तो कार्यकारण भाव से, कुछ दृष्टांत-दार्ष्टान्तिक भाव से और कुछ अन्वय-व्यतिरेक आदि भावों से वर्णित हैं।[१६] श्रीमद्भागवत का उपसंहार भी ज्ञान में ही है, क्योंकि शुकदेवजी सम्पूर्ण भागवत कहने के अनन्तर कहते हैं–''हे राजन्! जो मैं हूँ वही परमपदरूप ब्रह्म है''–

१६. व्यासजी का उपक्रम
भागवत १-१-१ – जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।
''जन्माद्यस्य यतः'' ब्रह्मसूत्र के समान है। उपसंहार ''तच्छुद्धं विमलं विशोकमृतं सत्यं परं धीमहि'' (भा. १२-१३-१९) – शौनकादि मुनियों ने भी यही प्रश्न किया है–
तत्र तत्रांऽजसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि।। (भा. १-१-९)
सूत ने वैसे ही उत्तर से उपक्रम किया है–''मुनयः साधु पृष्टोऽहं.... येनात्मा सुप्रसीदति'' इत्यादि से (भा. १-२-५) – शुकदेवजी का उपक्रम देखिये–
''तस्माद्भारत सर्वात्मा सर्वत्र हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्।।''
''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।।''
''अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'' इत्यादि श्रुति के समानार्थक ही है।
शुकदेवजी का उपसंहार भी देखिये–
''एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवाऽऽमृश प्रभोः।
बुद्ध्याऽनुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया।।'' (भा. १२-५-९)

इस भावना से जीव के शोकादि की निवृत्ति होती है और ''जो परमपद है वही मैं हूँ''– इस भावना से ब्रह्म का परोक्षपना निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार समीक्षा करने से निरुपाधिक ब्रह्म में आत्मा का स्थापन करने पर तुम पैर में काटने वाले विषैले तक्षक को, अपने शरीर और इस जगत् को आत्मा से भिन्न नहीं देखोगे अर्थात् सबको ब्रह्मरूप ही देखोगे।[१७]

तात्पर्यनिर्णय का दूसरा लिंग 'अभ्यास' है अर्थात् एक ही विषय का पुन:-पुन: प्रतिपादन करना। इसके प्रमाण में श्रीमद्भागवत के हर एक स्कन्ध का एक-एक श्लोक अभेद-भक्ति के प्रकरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। विस्तार भय से ऐसा नहीं किया जा रहा है। राजा रहूगण, जड भरत आदि के संवाद हैं, जिनमें अद्वैत ज्ञान का उपदेश दिया गया है। अभ्यास तो मनन का परम साधन है, अत: भिन्न-भिन्न उपायों से अध्यात्म विद्या का अभ्यास कराने के निमित्त भागवत शास्त्र में विचित्र-विचित्र पात्रों की आख्यायिका कही है-जैसे कामी, भीरु, वैरी, संसर्गी, स्नेही, भजनानन्दी, गोपी, कंस, शिशुपाल, यादव, पाण्डव, भक्तजन आदि-ये सब भक्त हैं, सभी ज्ञानी हैं और सबका मुक्ति में ही अवसान है।

तीसरा लिंग अपूर्वता है और वह भागवत में ज्ञानपर्यवसायिनी भक्ति है। भक्ति के बिना ज्ञान नहीं होता।

चौथा लिंग फल है जिसको आत्यन्तिक मोक्ष समझना चाहिए, इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया है[१८]-

''जैसे सूर्य से उत्पन्न तथा प्रकाशित हुआ मेघ सूर्य के अंश रूप चक्षु का सूर्य के देखने में प्रतिबन्धक होता है वैसे ही ब्रह्म का कार्य और ब्रह्म से प्रकाशित हुआ अहंकार ब्रह्म के अंश जीव का ब्रह्म के स्वरूप दर्शन में प्रतिबन्धक होता है। जब सूर्य से उत्पन्न हुआ मेघ दूर हो जाता है तब चक्षु अपने स्वरूपभूत सूर्य को देखता है; इसी प्रकार विचार करने पर जब आत्मा का उपाधि रूप अहंकार नष्ट हो जाता है तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता है अर्थात् जीव यह जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ।''

---

१७. भा. १२-५-११, १२
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले।
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननै:।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मन:।।

१८. भा. १२-४-३२, ३३
यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तम:। एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्याऽऽत्मन आत्मबन्धन:।।
घनो यदाऽर्कप्रभवो विदीर्यते चक्षु: स्वरूपं रविमीक्षते तदा। यदा ह्यहंकार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्।।

पांचवां लिंग अर्थवाद है। श्रीमद्भागवत में अनेकानेक राजाओं के और मुनियों के अति मनोहर इतिहास दिये गये हैं और उनमें ज्ञान तथा ज्ञान के साधनों का प्रतिपादन किया गया है। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ पर भी देते हैं। ध्रुवजी के चरित्र में मिलता है कि उनको मनु महाराज ने ज्ञान द्वारा समझाया था कि यक्षों का मारना अनुचित है। राजा पृथु को ब्रह्माजी ने ज्ञान का उपदेश देकर इन्द्र के वध से रोका था। राजा बर्हिषद् को नारदजी ने पुरंजन के रूपक से ज्ञान देकर यज्ञ में भी हिंसा करने से वर्जन किया था। ऋषभदेवजी के इतिहास से यह विदित होता है कि उन्होंने राज्य करते हुए अपने पुत्रों को ज्ञानोपदेश दिया था। राजा निमि और नव-योगेश्वरों का संवाद ज्ञान तथा ज्ञान के साधनों का प्रतिपादन करता है।

अर्थवाद का विषय केवल इतना ही नहीं है कि उसमें प्रधान विषय का सन्निवेश हो, किन्तु किसी स्थान में प्रधान विषय कहा ही नहीं जाता और कहीं अन्य विषय कहे जाते हैं जैसे भागवत के पंचम स्कन्ध में जम्बूद्वीप के नौ खण्ड, छः द्वीप, सात समुद्र आदि भूगोल का वर्णन किया गया है। भूगोल, खगोल का वर्णन भी–

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत।।

इत्यादि विधिवाक्यों के अनुसार परीक्षित के प्रश्न से[१९] (उक्तस्त्वया इत्यादि से) सिद्ध होता है कि वे परम्परया धारणा में सहायक हैं।

''स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेत् धिया'' भगवान् का स्थूल रूपज्ञान ही जब कल्याणकारक है, तो सूक्ष्म रूपज्ञान की तो बात ही क्या है? वह तो परम कल्याणकारक है ही, इस प्रकार अर्थवाद का तात्पर्य ब्रह्मज्ञान में ही है।

छठा लिंग उपपत्ति अर्थात् युक्ति है। इसका एक उदाहरण वह प्रसंग है जिसमें पिप्पलायन[२०] ऋषि ने ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया है तथा एकादश स्कन्ध में कृष्ण-उद्धव-संवाद में भी कई युक्तियों से ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर अन्वय, व्यतिरेक की युक्ति को उदाहरण स्वरूप से दे देते हैं जिसका श्रीमद्भागवत के कई स्थलों में विचार किया है।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा।।

चतुःश्लोकी भागवत में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि पुरुषार्थ इसी में है कि अन्वय-व्यतिरेक न्याय से यह जान लिया जाय कि जो सर्वत्र सब काल में रहता है वही ब्रह्म[२१] है अर्थात् जैसे मृत्तिका घट

१९. भा. २/२/१४
२०. भा. ११-३-३५ इत्यादि
२१. भा. २-९-३६

का कारण होने से घट में सर्वदा रहती है (यह अन्वय है) किन्तु वह कारण रूप से उन कार्य रूप घटों से पृथक् है (यह व्यतिरेक है) इसी प्रकार ब्रह्म सबका कारण होने से सब कार्यों में अन्वित है तथापि कारण रूप से वह कार्यों से पृथक् है।

इसी सिद्धान्त को लेकर पूज्यपाद श्रीधरस्वामीजी भागवत के आदि श्लोक के अन्तर्गत ''अन्वय-व्यतिरेक'' शब्द की टीका इस प्रकार करते हैं कि जैसे सुवर्ण कटक, कुण्डलादि आभूषणों में व्याप्त है (यह अन्वय है) और वे आभूषण यदि गलाकर पिण्डाकार कर लिये जायँ, तो वे सुवर्णपिण्ड में नहीं है (यह व्यतिरेक है) इसी प्रकार ब्रह्म सब वस्तुओं में व्याप्त है, किन्तु उन वस्तुओं की ब्रह्म में व्याप्ति नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त छः लिंगों से श्रीमद्भागवत के तात्पर्य का यह निर्णय समझना चाहिए कि यह ज्ञानपर्यवसायिनी भक्ति का प्रतिपादक ग्रन्थ है।

अब इस विषय में यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि ज्ञान क्या है? इसका उत्तर भागवत के ही शब्दों में देते हैं-''प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, मन, पाँच महाभूत और तीन गुण-इन अट्ठाईस तत्त्वों को ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सब प्रपंच में अनुगत देखना और इन सब भावों में परमात्मा को ओत-प्रोत देखना ज्ञान है-अर्थात् कार्यकारण रूप संसार को देखते हुए यह निश्चय करना कि वह परमात्मा से पृथक् नहीं है, यह 'ज्ञान' है। अथवा यह समझो कि पहले जो यह देखा था कि सब पदार्थों में एक ही वस्तु अनुगत है और अब ऐसा न देखकर यह जानता है कि वह परम कारण ब्रह्म ही है-यह अपरोक्ष ज्ञान है।''[२२]

ऐसे ज्ञान का अनुभव में आना अति दुष्कर है, किन्तु भगवत्कृपा से वह प्राप्त हो सकता है। इसी कारण भक्ति को इतना महत्त्व दिया गया है। कहा भी है –

''वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्।।''[२३]

यह कहना कठिन है कि भक्ति और ज्ञान का साथ कहाँ तक रहता है। किन्तु हम कह सकते हैं कि महावाक्यों के अनुसार ब्रह्म का चिन्तन भी भक्ति की कोटि में है। निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म

---

२२. भा. ११-१९-१४, १५
नवैकादश पंच त्रीन् भावान्भूतेषु येन वै।
ईक्षेताऽथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्।।
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन तत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्।।

२३. भा. १-२-७

साक्षात्कारपर्यन्त भक्ति है। तब इस भक्त की ''अहंकाररूप हृदय की ग्रन्थि कट जाती है और सब असम्भावनादि संशय दूर हो जाते हैं और उसके संसार के कारणभूत अनारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं।''[२४]

निष्कर्षत: –

अध्यात्म एक जीवन शैली है।

अध्यात्म तप है, तपस्या है – तपो द्वन्द्वसहिष्णुत्वम्।

अध्यात्म ज्ञान भक्ति का समन्वय है।

अन्त में स्वरचित श्लोक के माध्यम से अपनी भावना को व्यक्त करता हूँ–

श्रीगुरो: कृपया भूयात्, सर्वेषां मतिरीदृशी। –
जगद् ब्रह्म, जगद् ब्रह्म, जगद् ब्रह्मैव केवलम्।।

२४. भा. ११-२०-३०
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।।